गणित : जैसा मैंने सीखा–सिखाया

– मदन मोहन पाण्डेय

जैसा कक्षा दो तक सीखा

1960–61 में स्कूली गणित से अपना पहला परिचय एक से सौ तक गिनतियां याद करने, लिखने और उन्हें पहचानने के साथ हुआ। इसी के साथ जरूरी था दो से पांच तक पहाड़े याद करना, लिखना और पहचानना। यही था कक्षा एक का मूलभूत पाठ्यक्रम। इतना कर लिया तो आप होशियार माने जाते थे। जोड़, घटाना साल के अंत में शुरू करते थे पर उस पर ज्यादा जोर नहीं था। पाटी की एक साइड भाषा और दूसरी गणित के लिए सुरक्षित रहती थी। दोनों के लिए पाटी अलग–अलग तरह से तैयार की जाती। हम कमेट (सफेद मिट्टी से बनी स्याही) में एक धागा भिगाते उसका एक सिरा पैर के अंगूठे में फंसाते, दूसरा सिरा पाटी के दूसरे छोर पर रखते और अंगुलियों से धागा थोड़ा ऊपर खींचकर छोड़ देते। 'छटाक' की आवाज के साथ एक सफेद सीधी रेखा पाटी पर छप जाती। फिर इसी के समांतर या इसे काटती हुई दूसरी रेखा। इस काम में कमेट के गाढ़ेपन, रेखाओं को पाटी के किनारों के समांतर बनाने और धागे को कितना ऊंचा उठाकर छटकाएं इसका ध्यान रखना होता था। यह छः सात साल के बच्चों के लिए एक 'ज्योमैट्रिकल स्किल' थी। स्कूली गणित ज्ञान में इसकी जगह नहीं थी। भाषा, गिनती और पहाड़े के लिए सजाई गई तख्तियों के कुछ नमूने थोड़ा आगे दिए गए हैं–

काफी मशक्कत के बाद हम में से ज्यादातर बच्चे सालभर में 50–60 तक गिनती सुनाना, लिखना, पहचानना सीख जाते। ज्यादा मेहनती बच्चे सौ तक भी पहुंच जाते। मौखिक गिनती याद करते हुए हमें 22 से 24, 32 से 34 और हर दशक की इस सीरीज में कठिनाई का अनुभव हुआ। फिर 27 से 29 या 37 से 39 की सीरीज में। उनसठ उनहत्तर और उनासी में बहुत कनफ्यूज रहे। सबसे आसान था दस, बीस, तीस, चालीस, पचास की श्रृंखला को याद रखना। दो का पहाड़ा बेहद आसान था। फिर 5 का। 3 और 4 के जरा कठिन लगते थे।

कक्षा 2 में गणित की अलग किताब थी। यहां 6 महीने के बाद

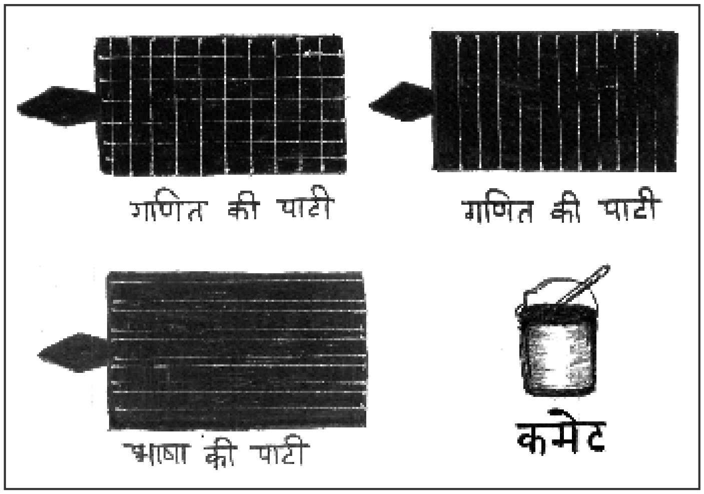

तख्ती की जगह कापी, कलम और नीली स्याही की दवात ने ले ली। कोर्स था एक से सौ तक गिनतियां, दस तक पहाड़े याद होना, लिखना, पहचानना, तीन अंकों तक का बिना हासिल का जोड़–घटाना, इकाई संख्या से दहाई व सैकड़ा संख्या में भाग। एक अंक से सैकड़ा संख्या में गुणा आ जाए तो बहुत बढ़िया। काफी मशक्कत, अभ्यास और थोड़ी मार–पिटाई के बाद कुछ बच्चे 'प्रखर बुद्धि' हो ही जाते थे। पर ये भी कहीं न कहीं चूकते थे। ज्यादातर बच्चे साधारण रहते थे। 'स्थानीय मान' हासिल के रूप में इस्तेमाल होता था पर उसकी 'अवधारणा' हमारे बस की नहीं थी। मास्साब का कहा इतना समझ में आता था कि ''इकाई के नीचे इकाई लिखो और दहाई के नीचे दहाई।'' इसके सवाल कम थे, पर सबको कठिन लगते थे। एक चीज और चलती थी–भिन्न का पहाड़ा –''पौवा, अद्धा, पौना, सवैया, इयौढ़ा ढाम'' यानि 1/4, 1/2, 3/4, 1/4 और $2\,{}^{1}/{}_{2}$ के पहाड़े। हमने ये रट लिये पर आगे इनसे भिन्न की समझ कभी नहीं बना पाए। तोला, माशा, रत्ती, सेर, छटांक, मन की रटंत इन दिनों आखिरी सांसें गिन रही थी। समय एक परिपक्व अवधारणा है। इसलिए घड़ियों में समय पढ़ने और कलैंडर के उपयोग की अपेक्षा हमसे नहीं की गई। जबकि बारह देसी और अंग्रेजी महीनों के नाम हमने रटे थे। सप्ताह के सात दिनों के नाम भी। पर कब कौन सा दिन है या महीना यह सोचने की जरूरत ही नहीं पड़ती थी।

शनिवार को हम बालसभा के कारण याद रखते थे और 'इतवार' को छुट्टी के कारण। महीने का तो ख्याल ही नहीं आता था।

बच्चों के अनुभवों का गणित

स्कूल जब गिनती–पहाड़े सिखा रहा था। उससे पहले से ही बहुत सा गणित बाहरी दुनिया से हमें मिल रहा था। हम अपने चार हाथ–पैरों को जानते थे। उनकी अंगुलियां जोड़कर 'बीस' बनाते थे। खेल में चार–चार, पांच–पांच की टोलियां बनाते थे, कटोरी, थाली, गिलास और बाल्टी की धारिता में कुछ फर्क कर लेते थे। ढलान और मैदान में खेलते हुए ढाल और समतल का फर्क समझते थे। मकानों के आकारों की तुलना करते थे। घरों के कोने और लहरदार टिन की चादरों की बनावट पहचानते थे। गधेरों के पानी की गति और गहराई का अनुमान लगाते थे। सीढ़ीदार खेतों से रोज गुजरते थे। रास्तों की लंबाई, चौड़ाई पहचानते थे। पहाड़ के शिखरों पर चमकती धूप से सूर्योदय व सूर्यास्त का अंदाज लगाते थे। स्कूल की घंटी और उसकी बिल्डिंग की छाया से – प्रार्थना के और छुट्टी के समय का अनुमान लगाते थे। हमारे गणितीय अनुभवों के कुछ शब्द इस प्रकार थे – कुण (कोना), लाम (लंबा), चाकव (चौड़ा), उच्च (ऊंचा), निच्य (नीचा), तलि (नीचे की ओर), मलि (ऊपर की ओर), म्वट (मोटा), पतव (पतला), राती (सुबह), चिलकोव (दोपहर से कुछ पहले का समय), धौपरि (दोपहर), ब्याव (शाम), गैर (गहरा), चापड़ (चपटा), दौड़ (दोहरा), त्यर्छ (तिरछा), सिद्ध (सीधा), असकुण (अननुपातीय), आदि–आदि। पर हमारे अनुभवों, शब्दों और स्थूल समझ को स्कूल में 'संदर्भ' के रूप में इस्तेमाल नहीं किया गया।

कक्षा तीन, चार, पांच

सन् 1962 की तीसरी कक्षा का कोर्स यह था – हासिल वाला तीन अंकीय संख्याओं का जोड़, साल के अंत में 'हजार' संख्या का भी। सैकड़े तक हासिल का घटाना, 20 तक की संख्याओं से सैकड़ा संख्याओं में गुणा। 15 तक पहाड़े कंठस्थ होना, लिखना, पहचान पाना। इबारती सवालों की संख्या कुछ बढ़ गई थी। अंगुलियों की रेखाओं पर जोड़ने का अभ्यास कराया जाता था। मौखिक गणित का अक्सर अभ्यास होता था। अचानक गुरूजी दर्जे में आते और कहना शुरू कर सकते थे, जोड़ों 11 में 4, 16 में 5 या 29 में 3 इत्यादि या घटाओ– 30 में से 5, 20 में से तीन। बहुधा जोड़–घटाने की संख्याएं 50 से नीचे ही रहती थी। सवाल ऐसे भी हो सकते थे – 'कै नम्मा इक्यासी?' या 'आठ नम्मे कितना?'

चौथी–पांचवी कक्षा में भिन्न, समय (घंटा–मिनट) और इबारती सवाल हमें कठिन पड़ते थे। 'स्थानीय मान' अलग से समझने पर कठिन लगता था पर उसे समझने से भी कोई खास मदद मिली हो – ऐसा नहीं लगता। भिन्न में काफी समय तक हमारी समझ में यह गुत्थी नहीं आई कि 1/2 + 1/2 = 1 क्यों होता है? हमारे हिसाब से इसे सीधे 2/4 होना चाहिए था। जब तक इसकी समझ मुकम्मल हो पाती तब तक संयुक्त भिन्न $1^{1}/_{2}$ और विषम भिन्न जैसे 6/4 आदि सामने आ गईं। भिन्न समझाने के लिए किताब में दिए गए वृत्त के टुकड़ों में हमारी कोई दिलचस्पी न थी। गणित सीखने का ई.एल.पी.एस. (एक्सपीरियंस, लैंग्वेज, पिक्चर और सिंबल) का सूत्र तब शायद हमारे गुरुजी भी न जानते होंगे। अच्छा यह रहा कि तब घरेलू कारणों से मेरा स्कूल बदल गया। मैं प्राइमरी स्कूल कुणीधार से प्राइमरी स्कूल झिमार में कक्षा 5 में डाल दिया गया। यहां 1964 में 'पीयर लर्निंग' होती थी।

गणित की कोई अवधारणा एक बार मास्साब समझाते, तब एक या दो होशियार बच्चों के नेतृत्व में चार, पांच या छः बच्चों के समूहों में उस अवधारणा से संबंधित कुछ सवालों का अभ्यास हम करते। सही सवालों पर नंबर दिए जाते। यहां मैंने छोटी बड़ी भिन्न में फर्क करना, दोस्तों के साथ 'हर' समान करके भिन्नों का जोड़–घटाना सीखा, संयुक्त और विषम भिन्न भी पल्ले पड़ने लगी थी। पर यह अपने आसपास स्थूल रूप में घटित होती हुई कहीं नहीं दिखी या इसे मैं देख नहीं पाया।

उन दिनों दाशमिक प्रणाली पर जोर हो गया था। दशमलव को समझना ज्यादा मुश्किल नहीं रहा। थोड़ा समझाने और अभ्यास करने से, इसका जोड़, घटाना और गुणा समझ में आ गया। 'भाग' सीखने में ज्यादा देर लगी। नाप और तौल के पैमाने रटना कठिन सिद्ध हुआ। हमें रटने का सूत्र बताया गया था – किलो, हेक्टो, डेका, मीटर, डेसी सेंटी मिली, तौल का पैमाना होता तो बीच में फंसे हुए 'मीटर' शब्द की जगह 'ग्राम' कहना था। रट तो इन्हें जैसे तैसे लिया पर इनके बीच का रिश्ता समझना ढेढ़ा काम था। दरअसल किलोमीटर से मिलीमीटर तक की सूचनाएं बिना किसी तर्क के एक साथ हम अपनी कल्पना में नही ला पाते थे। हम 'डेका' और 'डेसी' में भी 'कनफ्यूज' करते थे। कौन छोटा है और और कौन बड़ा यह समझने में बहुधा चूक होती थी।

हमें इस बात पर झुंझलाहट होती थी कि इतने पैमाने क्यों बनाए गए। क्या एक से ही काम नहीं चलाया जा सकता था? यह समाज बोध था ही कहां कि सेंटीमीटर से सड़क नापने लगेंगे तो एक हजार साल में एक सड़क बनेगी। दरअसल पैमाने को उसके सामाजिक उपयोग से जोड़कर हमें नहीं बताया गया। उन दिनों लकड़ी के जो 'स्केल' आते थे उनमें एक ओर इंच और दूसरी ओर सेंटीमीटर–मिमी बने होते थे। हमें ये फुट और इंच आसान लगते। क्योंकि वे सामाजिक उपयोग में थे। मुझे मीटर–सेंटीमीटर, डेसीमीटर गांव की कंट्रोल की दुकान से कपड़ा लेते हुए समझ आया। वहां लोहे के गज और मीटर दोनों रखे थे। एक दो बार दोनों को उठाकर उलट–पलट कर देखा। गज छोटा था मीटर बड़ा। मुझे अपना रटा हुआ वाक्य याद आया 'तीन फीट का एक गज'। 'मीटर' पर सेंटीमीटर और डेसीमीटर के निशान बने हुए थे। ग्राम किलोग्राम का रिश्ता राशन की दुकान पर चीनी लेते हुए 'बाट' देखकर समझा।

यह मानना कि इबारती सवाल हल न कर पाने के कारण, बच्चों का भाषा में कमजोर होना है– पूरी तरह सत्य नहीं हैं। मेरी भाषा अच्छी थी लेकिन इबारती सवाल मुझे कठिन लगते थे। मुझसे खराब हिन्दी जानने वाले मेरे साथी इबारती सवाल हल करने में मुझ से आगे रहते थे। दरअसल गणित की प्रकृति भाषा से भिन्न है। मेरा अनुमान है कि इबारती सवाल हल करने में व्यावहारिक जीवन के अनुभव, वस्तुओं की खरीद–फरोख्त के तजुर्बे, मानसिक परिपक्वता और परिस्थितियों में तर्क से निर्णय लेने के अभ्यास ज्यादा मदद देते होंगे।

गणित जैसा मैंने सिखाया

प्राइमरी स्कूल में पहली बार कक्षा एक मिली तो मेरे होश फाख्ता हो गए। स्कूल में 600 बच्चे – कक्षा एक में 85 बच्चे। जगह कम थी इसलिए कक्षाओं में सैक्शन बनाकर 'कक्षाबंदी' की गई थी। यानि एक या दो शिक्षकों को सालभर के लिए एक ही क्लास सौंप दी गई थी। मेरे साथ की सीनियर शिक्षिका ने हिन्दी हथिया ली। वे हाफ टाइम से पहले हिन्दी पढ़ाती, मैं हाफ टाइम के बाद गणित। शुरू में कुछ दिन तो मन ही नहीं लगा। फिर बी.टी.सी. के मेरे आदर्शवाद ने जोर मारा तो मैंने गिनतियां सिखाना शुरू किया। अपने 'रोचक शिक्षणशास्त्र' के तहत मैंने अक्षरों की अजीबोगरीब आकृतियां बनाई। मैं एक को चाबी की तरह बनाता। दो, तीन की आकृति को सांप की शक्ल देता, चार को खरगोश के सिर की। नौ तक के लिए मैंने कोई न कोई आकृति ढूंढ ली। वैसे ही अंक बच्चों से बनवाता।

कुछ दिन तो यह तमाशा चला। पर जल्दी ही मैं और बच्चे इससे ऊब गये। साफ लगा कि यह कोई तरीका न था। फिर कुछ दिन क्लास छोड़कर – बाजार भागता रहा। एक दिन बच्चों ने क्लास में ज्यादा धमाल मचाया तो हेडमास्साब मुझे ढूढ़ते हुए बाजार ही आ गए। मैं चाय पी रहा था– मुझे मनाकर ले गए। मैंने उनसे कहा कि मुझे कोई दूसरी क्लास दे दें। वे बोले – 'यार इस साल तू पढ़ा दे अगले साल तेरी क्लास बदल दूंगा।'' मैं मान गया, और गिनती/पहाड़े रटाने की 'विधि' पर काम करने लगा। मैं ब्लैक बोर्ड पर गिनतियां/पहाड़े लिखकर इतने जोर–शोर से रटाता कि तीन ओर इमारतों से घिरा स्कूल बच्चों की आवाजों से गूंज उठता। मैं 'डंडा' लेकर यह 'सुनिश्चित' करता कि हर बच्चा गिनती या पहाड़ा बोल रहा है कि नहीं (हालांकि मारता नहीं था)। मेरे इस भारी जोश से बाकी कक्षाएं डिस्टर्ब होने लगीं तो हेडमास्टर ने मुझे स्कूल के पिछवाड़े नीम के नीचे क्लास ले जाने की सलाह दी। यहां से बाजार भागना भी आसान था। पर बी.टी.सी. में मैं एक अच्छा छात्राध्यापक माना जाता था–अपने इस गर्व की रक्षा के लिए मैं कक्षा में जुट गया।

स्कूल के पिछवाड़े मैंने अपनी 'जनता' को पहचाना। ये सभी कस्बे के खोखे, रेड़ी, बुग्गीवालों, दुकानों के नौकरों और मजदूरों के बच्चे थे। बच्चों के पास लिखने के लिए तख्तियां–कलम, गेरु की स्याही, स्लेटी चाक या फिर कापी–पेंसिल थीं। दस पंद्रह बच्चे रोज ही ऐसे आते थे जिनके पास पेंसिल, चाक, स्याही या स्लेट नहीं होता था। मेले, त्यौहारों पर आधे बच्चे स्कूल से नदारद रहते थे। मुझे इस 'समस्या' को 'एवॉइड' करना पड़ा। आखिर मैंने लिखना सिखाना और संख्याओं की पहचान कराना शुरू किया। हर बच्चे की कॉपी या तख्ती पर लिखना संभव न था। मुझे बड़ी कक्षा के लिए 'सामूहिक' तरीका चाहिए था। यह था ब्लैकबोर्ड पर लिखना और पहचान कराना।

यह जगह एक छोटा आयताकार मैदान थी जिसके एक किनारे ईंटों की खाली झोपड़ी भी थी।

मैंने तय किया कि एक दिन ब्लैक बोर्ड क्लास के एक ओर और अगले दिन दूसरी ओर लगाया जाएगा ताकि सभी बच्चे 'कवर' हो सकें। पहले 20 तक की गिनती पहचान का अभ्यास कराया। फिर पचास तक। फिर 51 से 80 और 51 से 100 तक। साथ में

2 और 3 के पहाड़े चलाए। 20 से आगे गिनती की पहचान कराना कठिन रहा। साधारण वर्ग के ये बच्चे जीवन की परिस्थितियों से ज्यादा परिचित थे। वे ठोस वस्तुओं के साथ संख्याएं पहचान लेते। कई तो अपने मां–बाप के साथ खोखे–ठेली पर फल–वगैरह बेचने में खड़े होते। वे कुछ सिक्के भी पहचानते थे। पर मेरा रट्टू गणित उन्हें नहीं भा रहा था। मैंने करीब चार महीने अच्छी मेहनत की। 1 से 100 तक के अलावा 10, 20, 30, 40 के पैटर्न से भी गिनती पहचान कराई। एक तरीका 1, 11, 21, 31, 41 वाला इस्तेमाल किया। ये बच्चों के लिए आसान रहे, बोर्ड पर लकीरें खींचकर 19, 20, 21 / 29, 30, 31 / 39, 40, 41 वाला पैटर्न भी आजमाया। फिर भी जब पूछता कि 21 और 31 में बड़ा कौन तो वे गड़बड़ा जाते। पर 100 और 10, 100 और 1, 1 और 20, आदि में फर्क वे आसानी से बता देते।

दरअसल मैं ठोस वस्तुओं के साथ तुलना कराते हुए काम ही नहीं कर रहा था और हाथ धोकर सिर्फ संख्याओं के पीछे पड़ा हुआ था। लेकिन अनुभव ने यह रास्ता दिखाया कि कुछ मौखिक गणित भी होना चाहिए।

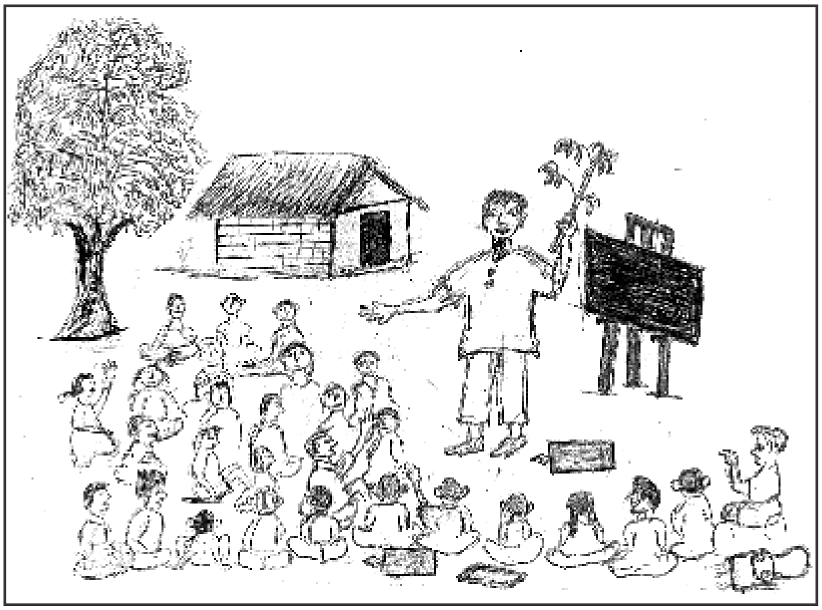

नीम और झोपड़ी

एक दिन मैंने नीम के पेड़ की ओर इशारा करके बच्चों से पूछा बताओ इस नीम पर कितनी पत्तियां होंगी? जवाब आए– लाख, करोड़, हजार, सौ दर्जन, किसी ने हाथ के इशारे से बताया– इतने सारे, बहुत से आदि। वे लाख–करोड़ हजार की अवधारणा नहीं पहचानते थे। केवल सुने हुए शब्दों को अनुमान के लिए इस्तेमाल कर रहे थे। 'दर्जन' का जवाब देने वाले फलवालों के बच्चे रहे होंगे। वे 'दर्जन' पहचानते थे। फिर पूछा 'झोंपड़ी में कितनी ईंट लगी हैं?' जवाब आए– पांच सौ, दस हजार, बाहर सौ आदि। जब पूछा– नीम की पत्तियां ज्यादा हैं या झोंपड़ी की ईंटें?' तो सबका जवाब था नीम की पत्तियां। यहां उन का अनुमान बिल्कुल सही था। तब ठोस वस्तुओं से अंकों / संख्याओं के मिलान के कुछ मौखिक अभ्यास कराए।

जोड़–घटाने का एक तरीका मुझे इन बच्चों को सुबह निबौरियां (नीम की फलियां) बटोरते देखकर सूझा। मैंने उसी दिन बोर्ड पर निबौरियों के चित्र बनाकर जोड़ना सिखाया।

दस तक का जोड़ काफी आसान रहा। मैं इन निबौरियों की जगह कभी पत्तियां और कभी ईंटें भी चित्रित करता। (किताब में भी यही आइडिया था) फिर चित्रों के बीच अंकों वाले सरल जोड़ लिखने लगा और अंकों के साथ तीलियां जोड़ने वाली तरकीब बताई। जैसे–

आदि। वे अंकों के बराबर तीलियां बनाते और जोड़ लेते। बच्चों को समझाते–समझाते, खुद यह समझ आया कि इन्हें जोड़–घटाने का कारण तो बताऊं। सो बताया कि जब चीजें बढ़ानी हैं तो जोड़ो और कम करनी हों तो घटाओ।

साल के अंत तक आधे से ज्यादा बच्चों को बिना हासिल के दहाई का जोड़–घटाना आ गया। साठ तक गिनतियां और पांच तक के पहाड़े याद हो गए। हालांकि वे इनमें गलतियां करते थे। 4 नम्मे पूछता तो वे अटक जाते। फिर भी नौ / दस बच्चे ज्यादा कुशल हो गए थे। सालाना परीक्षा में हमने पहली कक्षा में करीब 10 बच्चे फेल कर दिए। ये दस तक गिनती और 2 का पहाड़ा लिखना भी नहीं सीख पाए थे।

आज की नजर से देखता हूं तो मुझे अपराध बोध होता है कि हमने इन अभावग्रस्त बच्चों का एक साल खराब कर दिया। जरूर उनके न सीख पाने के पीछे कुछ परिस्थितियां रही होंगी जिन्हें मैं और हमारा स्कूल समझ नहीं पाया।

ट्रांसफर वाला स्कूल

यहां हम दो अध्यापक और करीब 50 बच्चे थे। अपने सहयोगी रामअवतार जी की दो खूबियां थी। एक बच्चों के स्वभाव की

समझ, दो– स्कूल से लगाव, मैंने कक्षा एक व दो को और उन्होंने तीन, चार, पांच को पढ़ाना तय किया। हालांकि कोई भी किसी की कक्षा में जा सकता था। यह छूट थी।

यहां एक विचित्र अनुभव हुआ। पहली कक्षा की एक बच्ची 1 से 10 तक के क्रम में संख्याएं याद नहीं कर पा रही थी। मैंने केवल आजमाइश के तौर पर उसे 1001, 1002, 1003, के क्रम में बोलकर और बोर्ड पर लिखकर याद कराया। 1009–1010 में वह थोड़ा गड़बड़ाई थी। पर आखिर उसे यह क्रम याद हो गया। फिर 1 से 10 का क्रम भी। मेरे दिमाग में सवाल आया – क्या बच्चे बड़ी संख्याएं पसंद करते हैं? अभी तक इसका जवाब मेरे पास नहीं है।

हासिल के सवालों पर हमें मुश्किल पेश आई। हमने एक ऊटपटांग काम किया। एक बिन्दी चार्ट बनाया। कुछ इस तरह इसकी कई कॉपियां बना लीं

10 9 8 7 6 5 4 3 2 1

	1	
	1	9
+	1	6
		5

हासिल के जोड़ों में हम इसे बच्चों को बांट देते। इकाई या दहाई का जोड़ इनकी (जैसे 9+6 = 15) इनकी मदद से करते। जोड़ी गई संख्या की इकाई– संबंधित कालम में लिखाते, हासिल बायें कालम के ऊपर लिख देते (यह तब का प्रचलित तरीका था) इससे बच्चों के लिए जोड़ कुछ आसान तो हुआ ही। पर हासिल के घटाने का हम कोई तरीका नहीं निकाल पाए।

गुणा और भाग को हमने पहाड़े के तौर पर समझाया गुणा को चित्रात्मक पहाड़ा विधि और भाग को 'बराबर बंटवारे' के रूप में समझाया। गुणा का शुरुआती रूप ऐसे दिखाते थे।

0	0	0	0	0	0	6
0	0	0	0	0	0	12
0	0	0	0	0	0	18

भाग हमने कुछ इस ढंग से सिखाया

16	=	0000	0000	0000	0000
		4	4	4	4

इन्हें हम अपनी भाषा में टोटके कहते थे। अंगुलियों की रेखाओं पर, गिनना, घटाना, मौखिक पहाड़ा और सरल जोड़–घटाना हम कराते ही थे। कक्षा 4, 5 के बच्चों को घड़ी में समय पहचानना कठिन पड़ा तो हमने समय को चपटा कर दिया। घंटा मिनट की पट्टियां बना डालीं, कुछ ऐसी–

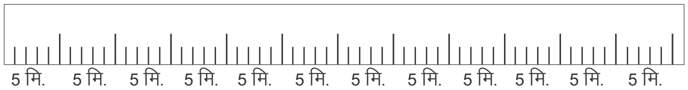

1 घंटा = 60 मिनट

रामअवतार जी कहीं से एक टेबल घड़ी ले आए और इन पट्टियों को लेकर 'समय' समझाने में पिल पड़े। वे बच्चों से कहते 'मुश्किल क्या है? घड़ी वालों ने इन पट्टियों को घड़ी में रखकर घुमा दिया हैं बाकी तो घंटा में 60 ही मिनट होते हैं। यही देखकर हिसाब लगाओ!'

वे काफी समय तक इनकी मदद से घंटा मिनट और फिर मिनट और सेकंड का रिश्ता समझाते। कभी पस्त हो जाते तो चाय सुड़कते हुए कहते "काहे महाराज ये बच्चे तो कुछ समझवै नहीं करते।" आखिर उन्होंने कक्षा 4, 5 के एक/दो छोड़कर सभी बच्चों को घड़ी देखना और घंटा–मिनट–सेकंड को एक दूसरे में बदलना सिखा दिया।

दिन और तारीख के लिए हम कक्षा 4, 5 में कलेंडर ही इस्तेमाल करते थे। सारे तो नहीं लेकिन आधे से ज्यादा बच्चे, महीना, सप्ताह, दिन, घंटा, मिनट और सेकेंड पहचानने लगे। किताब में उनसे संबंधित सवाल भी काफी हद तक करने लगे।

'भिन्न' रामअवतार जी ने कैसे सिखाई मुझे नहीं पता। पर हम परंपरावादी ही थे। हमें भी अपने स्कूल को फर्स्ट या सेकिन्ड देखने का नशा था। हम फर्स्ट तो नहीं आए। पर दो साल ब्लॉक में हमारा स्कूल पांचवी की परीक्षा में दूसरे स्थान पर रहा।

(लेखक अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन से जुड़े हैं)